जैन मन्त्र-साधना पद्धति :: एक परिचय

• डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी

साधना अथवा उपासना की भावना जब हृदय में उदित होती है, तो समझना चाहिये कि 'मेरे सत्कर्मों का सुफल परिपक्व होकर अपनी सुगन्ध से मेरे अन्तर को सुवासित कर रहा है। क्योंकि ऐसी पवित्र भावना बिना सुकृतों के परिपाक के नहीं होती। गीता में कहा गया है कि -

जन्मान्तर-सहस्रेषु, कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

हजारों जन्मों के बीत जाने पर कोई एक सिद्धि के लिये मेरी उपासना द्वारा मुझे प्राप्त करने के लिये- प्रयत्न करता है। और उन प्रयत्नशाली सिद्धों में भी कोई ही मुझे वास्तविक रूप से जान पाता है।

इस भावना को यथार्थ में लाने के लिये शास्त्रकारों ने अनेक उपाय बतलाये हैं। ऐसे उपायों में मुख्यतः दो उपाय प्रमुख हैं -१- बाह्य उपाय और २-आन्तरिक उपाय। बाह्य उपाय के विभिन्न रूप हैं और वे अपने-अपने सम्प्रदाय तथा गुरूपदिष्ट मार्ग से अनुष्टित होते हैं। तप की महत्ता इसमें सर्वोपरि है किन्तु तप का तात्पर्य इस मार्ग में किसी सङ्चित प्रक्रिया तक सीमित रहकर कायकलेश सहन करना ही नहीं है, अपितु जीवन के सभी अङ्गों से मानसिक, वाचिक और शारीरिक प्रक्रियाओं का प्रकृष्ट रूप से सदुपयोग करना है।

सभी कार्यों की सिद्धि के मूल में कर्ता का तप ही बीजरूप में विद्यमान रहता है। उस बीज को अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित करने के लिये भी तुद्नुकूल तप की अपेक्षा रहती है, तभी वह एक सर्वाङ्पूर्ण वृक्ष बनकर उत्तमोत्तम फल प्रदान करने में समर्थ होता है। तप का ही अपर नाम है "उपासना"।

उपासना शब्द उप+आसना="निकट बैठना" अर्थ को व्यक्त करता है। किस के निकट बैठना? यह इससे सम्बद्ध पहला प्रश्न है और इसका उत्तर है 'अपने इष्ट के निकट' जिससे हमें कुछ प्राप्त करना है उसके पास हम पहुँचेंगे तभी तो कुछ ले पायेंगे? इस पर प्रतिप्रश्न होता है कि 'हमारा इष्ट तो हमारे हृदय में ही विराजमान है, फ़िर हम बाहर क़्यों जाएँ?' यह कथन समीचीन है, किन्तु जो हृदय में बैठा है, उस तक पहुँचने के लिये भी तो प्रयास करना होगा?

इसे एक उदाहरण द्वारा समझना चाहिये। जैसे घृत का आवास दूध, दही और मक्खन में हैं और वह गौ के दूध की परिणति होने से गौ में स्थित है। किन्तु क्या गौ के शरीर पर रोटी मलने से घृत की चिकनाहट रोटी पर आजाएगी? नहीं। उसके लिये तो दूध दुहने, उसे तपाकर दही जमाने और उसके मथने की क्रियाएँ करनी ही होंगी। ऐसी क्रियाओं को ही शास्त्रीय शब्दों में "उपासना" कहा गया है। यह क्रिया स्वयम्प्रयास द्वारा किये जाने पर इष्ट के साथ तादात्म्य सम्पन्न कराने में पूर्ण सहायक होती है, इसीलिये यह अवश्य कर्तव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपासना शब्द अपने इस उपर्युक्त अर्थ के साथ ही और भी दो अर्थों को अपने में छिपाये हुए है। वे हैं -'उप+आ+असन' अर्थात् 'इष्टदेव के समीप पहुँचने के लिये सांसारिक प्रवृत्तियों का सभी ओर से असन= त्याग' और 'इष्टदेव की सत्ता में पूर्ण विश्वास'। इन अर्थों की उपलब्धि के लिये 'अस=भुवि-सत्तायाम्' और 'असु=क्षेपे' (क्रमशः द्वितीय-अदादिगण एवं चतुर्थ दिवादि गण पठित) धातुओं का उपयोग करना होगा। इस प्रकार उपासना का अर्थ होगा -"इष्टदेव की सत्ता में विश्वास रख कर सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग करते हुए उसके निकट पहुँचने की क्रिया भावना और स्थिर निष्ठा।"

यह उपासना सर्वोच्च पदप्राप्त, सर्वविध दोषविमुक्त, मनुष्यों की अपेक्षा शरीर, सम्पदा, ऋद्धि-सिद्धि और बुद्धि में सर्वश्रेष्ठ देव-देवी की कोटि में प्रविष्ट एवं देव-देवियों द्वारा ज्ञात ईश्वरी शक्ति सम्पन्नों की करने का विधान जैनशासन में उपदिष्ट है, परम्परा-प्राप्त है तथा उत्तम पुरुषों द्वारा स्वीकृत है, अतः अवश्य करणीय है।

जैन-शासन में देव-देवी विषयक धारणा - भारतीय संस्कृति की चिन्तनधारा में ईश्वर-विषयका मान्यता स्व-स्वसम्प्रदायानुसार पृथक्-पृथक् है। यहाँ जैन-शासन का चिन्तन प्रसङ्ग प्राप्त है। अतः तत्सम्बन्धी विचार यहाँ प्रस्तुत हैं -

"प्रायः तीन हजार वर्ष पूर्व उत्पन्न और कलिकाल में कृल्पवृक्ष के समान सहज लोकप्रिय, आदेय नामकर्मवाले तेईसवें तीर्थङ्क भगवान् पार्श्वनाथ प्रभु को योग्य समय पर त्रिकालज्ञान-केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। समवसरण में उन्होंने साधु-साध्वी-श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की। उस प्रसङ्ग पर पार्श्वनाथ भगवान् के शासन में अथवा उनके श्रीसङ्घ में योगक्षेम-अर्थात् प्रजा के बाह्य-आभ्यन्तर, धार्मिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष में सहयोगी बन सकें उसके लिये किसी भी एक देव और देवी की नियुक्ति होती है। यह व्यवस्था प्राचीन काल से चली आ रही है। इस व्यवस्था के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ के अधिष्ठायक संरक्षक के रूप में, यक्ष के रूप में पार्श्व और यक्षिणी के रूप में पद्मावती देवी की नियुक्ति हुई थी। लोकोत्तर शासन में भी देव-देवियों की सहायता अनिवार्य होती है तथा तीर्थङ्कर देव भी इस अनिवार्यता का आदर करते हैं, यह बात विशेषतः ध्यातव्य है।

देव-देवियों का निवास आकाश-स्वर्ग में है और हम जिस धरती पर रहते हैं उस धरती के नीचे पाताल में भी है। संसार में सुख-दुःख, अच्छा-बुरा करने-कराने वाले जो कोई देव देवियाँ होते हैं (प्रायः) वे सब पातालवासी ही होते हैं। वैसे देव-देवियाँ भी सांसारिक जीव ही हैं। किन्तु मनुष्यों की अपेक्षा शरीर, सम्पत्ति, बुद्धि, ऋद्धि-सिद्धि के सम्बन्ध में वे सर्वश्रेष्ठ होने के कारण 'देव' शब्द से सम्बोधित होते हैं। जैसे देव के वास्तविक अर्थ में नहीं, अपितु देव के रूप में वस्तुतः ज्ञात ईश्वरी व्यक्तियों की ही भक्ति-उपासना इष्टकार्य और मनोरथों को पूर्ण करती है, उसी प्रकार इन सांसारिक देवों की उपासना भी विशिष्ट शक्ति के कारण यथाशक्ति जीवों की बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की इष्ट सिद्धियों को पूर्ण करने में सहायक होते हैं। इसीलिये उन्हें देव के रूप में सम्बोधित किया जाता है।

इन देव-देवियों के शरीर के लिये एक विशिष्ट बात यह है कि उनके शरीर हमारे शरीर जैसे नहीं होते किन्तु हमसे पूर्णतः भिन्न होते हैं। तात्पर्य यह कि वे दिखने में हम जैसे होते हुए भी भिन्न पुद्गल परमाणुओं से बने होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तिम कक्षा का ज्ञान रखनेवाले त्रिकालज्ञानी भगवान् महावीर ने ज्ञान-चक्षु से दृश्य-अदृश्य ऐसे विराट् विश्व को देखते हुए चैतन्य-अचैतन्य स्वरूप जो सृष्टि देखी उस समग्र सृष्टि में जीव पाँच प्रकार के शरीरों में विभक्त देखे। उन पाँच प्रकार के शरीरों के नाम क्रमशः १-औदारिक, २-वैक्रिय, ३- आहारक, ४- तैजस तथा ५- कार्मण हैं।

मनुष्य, पशु-पक्षी, सूक्ष्य जन्तु आदि तिर्यञ्चों का औदारिक शरीर है। विराट् विश्व में अदृश्य रूप में स्थित औदारिक नामक परमाणुओं से वे शरीर बने हुए होते हैं। देव और देवियों के वैक्रिय शरीर होते हैं। औदारिक से भिन्न विराट् विश्व में वैक्रिय प्रकार के पुद्गल परमाणुओं से वे शरीर निर्मित होते हैं। शेष तीनों शरीर उन-उन शरीरों के बनने योग्य विश्व में प्रवृत्त पुद्गलों से बनते हैं।

औदारिक शरीर न्यूनाधिक सात धातुओं -'रस, रक्त, मांस, भेद, अस्थि, मज्जा, तथा वीर्य, से बने होते हैं।' जब कि देवों के शरीरों में इन सात धातुओं में से एक भी धातु नहीं होती। फिर भी वैक्रिय वर्गणा के पुद्गल शरीर के उन-उन स्थानों में इस प्रकार संयुक्त हो जाते हैं कि वे देखने में आकृत्या मानव जैसे होने पर भी मनुष्य के शरीर से असाधारण सुदृढ, तेजस्वी, प्रकाशमान और अति सुन्दर होते हैं। वैक्रिय शरीर की बात पाठकों को कुछ नई लगे वैसी है किन्तु यह वास्तविक है। इन देवों के दर्शन अशक्य अथवा दुर्लभ होने से हमें उनके रूप अथवा काया के दर्शन नहीं हो सकते। तथापि उस दर्शन के लिये एक मार्ग उद्घाटित है, वह है 'मन्त्रसाधना'। मन्त्रसाधना की सिद्धि से मनुष्य आकर्षण कर सके तो उसके लिये दर्शन सुलभ बन जाते हैं। अथवा मानव को बिना साधना के, बिना प्रयत्न के प्रतिदिन देवों के भव्य और अनूठे शरीर के दर्शन करने हों तो तीर्थङ्कर इस धरती पर विचरण करते हों उस समय जन्म लेना चाहिये।

ऐसे वैक्रिय शरीर धारी देवों को देवलोक में जन्म लेने के साथ ही भूत, भविष्य और वर्तमान के भावों को मर्यादित रूप से ज्ञान करानेवाला अवधिज्ञान प्राप्त होता है। और वे उस ज्ञान से भगवान् की समर्पणभाव से भक्ति करने वाले भक्तों की इष्टकार्यसिद्धि की सफलता, मनोकामना की पूर्ति आदि कार्यों में यथाशक्ति सहायक बन सकते हैं। इसी प्रकार स्वयं उन देव-देवियों के नाम स्मरण, पूजा-उपासना आदि किये जाएँ तो भी वे प्रसन्न होकर मनःकामनाओं की पूर्ति में सहायक होते हैं। साधना जब शिखर पर पहुँचती है, तब इष्ट कार्य में अभीप्सित सफलता और सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। देव-देवियाँ अद्भुत और आश्चर्यजनक चमत्कार कर सकते हैं। वे मानव की अपेक्षा हजारों गुना सुखी, बुद्धिशाली, प्रकाशमय शरीर वाले, रूप के भण्डार से परिपूर्ण, सदा निरोगी और सुगन्धित श्वासवाले होते हैं। वे लाखों वर्षों की आयुष्य वाले और मात्र एक ही युवा अवस्थावाले होते हैं। वे नित्यभोजी नहीं होते। मल-मूत्र की उपाधि से मुक्त होते हैं। इस संसार में भौतिक सुख की पराकाष्ठा का नाम देवलोक है।

ये देव-देवी गण केवल भौतिक सुख में ही सहायक नहीं होते अपितु धर्मप्राप्ति, मुक्ति प्रप्ति और कर्मक्षय में भी कारण बनते हैं।

सिद्धि का सर्वोत्तम साधनः मन्त्र - साधना साधन-साध्य है। जैसा कार्य होता है उसी के अनुरूप साधन का अवलम्बन मिल जाता है तो राजमार्ग पर चल कर लक्ष्य तक पहुँचने में कोई कठिनाई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होती। प्राचीन आचार्यों ने सिद्धि-प्राप्ति के लिये मानवों की रुचि-विचित्रता का ध्यान रखकर अनेक प्रकार के साधनों के कथन किये हैं। किन्तु उनमें 'मन्त्र' द्वारा साधना करने को सर्वोत्तम साधन बतलाया है। तन्त्रशास्त्रों में भी स्वात्मबोध एवं स्वरूपज्ञान तथा सांसारिक सन्तापों की निवृत्ति के लिये मन्त्र-साधना को ही सर्वाधिक मान्यता दी है। मन्त्र का स्वरूप-निरूपण करते हुए 'महार्थमञ्जरी' कार ने तो कहा है कि -

मननमयी निजविभवे निजसङ्कोचमये प्राणमयी।
कवलित-विश्व-विकल्पा अनुभूतिः काऽपि मन्त्रशब्दार्थः॥

इसके अनुसार सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता-शक्ति से सम्पन्न अपने ऐश्वर्य का बोध कराना तथा अल्पज्ञता और अल्पकर्तृतारूपी सङ्कुचित शक्ति से उत्पन्न दीनता, हीनता, दरिद्रता आदि सांसारिक सन्तापों से मुक्त करना एवं कुत्सित वासनाओं के सङ्कल्प-विकल्पों का विनाश करके 'सोऽहम्' की भावना से भावित अनुभूति होना ही मन्त्र-शब्द का तात्पर्यार्थ, स्वरूप या प्रयोजन है।

मन्त्र की महिमा की गरिमा के कारण ही मन्त्रों की अनन्तता बनी है। संसार के प्रत्येक प्रमुख धर्म की साधना-पद्धतियों में मन्त्र का माहात्म्य चिर-स्थिर है। जैनधर्म में भी 'मन्त्र' की महिमा कम नहीं है। जैनागमों में तत्सम्बन्धी वर्णन अनेक स्थलों पर प्राप्त हैं। जैसा कि 'जैनधर्म' की परिभाषा के रूप में मनीषियों का मन्तव्य है -'आत्मा के लिये आत्मा द्वारा प्राप्य और आत्मा में प्रतिष्ठित होनेवाला धर्म जैन धर्म है' -इसी मन्तव्य के पोषण हेतु आत्मविजय के चिरन्तन मार्ग में आत्मा के सच्चिदानन्द-स्वरूप की उपलब्धि के साधक मन्त्रों का उल्लेख जिनवाणी के रूप में संगृहीत आगमों में प्राप्त होता है। जिनेन्द्र, अर्हत् तीर्थङ्कर, सिद्ध आदि से सम्बद्ध मन्त्र भी अर्धमागधी भाषा में वहीं निर्दिष्ट हैं और उत्तरवर्ती व्याख्याग्रन्थों तथा विधि-ग्रन्थों में संस्कृत भाषामय मन्त्र प्रतिपादित हैं। उत्तरोत्तर इस प्रवृत्ति का विकास भी हुआ है और पद्धति-विषयक परिष्कार भी। जिससे मन्त्रों के सभी रूप निखर आये हैं जिनमें कूट-बीज, बीज, बहुबीज, नाम-मन्त्र, माला मन्त्र, पद्यात्मक मन्त्र, स्तुतिरूप मन्त्र, कामना-पूरक मन्त्र और रोगादि दोष-निवारक मन्त्र तो हैं ही, साथ ही अधिष्ठायिका देवियों के, यक्ष-यक्षिणियों के तथा अन्यान्य अनेक मान्यतानुकूल सिद्ध, सूरि आदि के मन्त्र भी उपलब्ध होते हैं। और जब मन्त्र हैं तो उनकी 'साधना-पद्धति' भी है ही। यहाँ हमारा मुख्य प्रतिपाद्य जैनमन्त्रों की साधना-पद्धति है, अतः इस विषय पर कुछ विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

साधना-पद्धति और उसके प्रकार - साधना की समस्त पद्धतियों का आधार वे क्रियाएँ हैं, जिनके करने से साधना की पात्रता आती है, उपासना के अंग-उपांगो का निर्वाह होता है जिनमें बाह्य और आन्तर-पूजा-विधानों के साथ ही न्यास, जप एवं आन्तरिक इष्ट-चिन्तन की विधाओं का भी समावेश होता है। ये पद्धतियाँ शास्त्रोपदिष्ट और अनुभवसिद्ध साधकों द्वारा संक-लित भी हैं तथा संङ्कतरूप में सूचित भी। जैन-मन्त्र-साधना में 'पञ्चनमस्कार, सिद्धचक्र, ऋषिमण्डल' आदि के पूजा-विधान ग्रन्थरूप में उपलब्ध हैं। पद्मावती देवी, चक्रेश्वरी देवियाँ, मणिभद्र, घण्टाकर्ण और सिद्धायिका, श्रीदेवी, ज्वालामालिनी के कल्पों की संख्या भी न्यून नहीं है। इस प्रकार की विविधता से पूर्ण साधनाओं के लिये कतिपय विधियाँ तो सर्वसामान्य ही रहती हैं किन्तु विशेषपूजा के लिये विशेष पद्धतियों का पालन आवश्यक होता है। यहाँ हम सूची प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसमें सङ्केतरूप से नाम-निर्देश तथा अन्य आवश्यक निर्देश समाविष्ट हैं।
यथा -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"१ -आराधनास्थान-प्रवेश, २-द्वार-पूजा, ३-ऊर्ध्व, दक्ष एवं वाम द्वारशाखा पूजन, ४-आसन-उपवेशन, ५- विविध शुद्धियाँ, स्थान, देह, मन, दिशा, भूत, मन्त्र, द्रव्य शुद्धि तथा देव शुद्धि, ६- भावशुद्धि के लिये पीठ, यन्त्र, प्रतिमा आदि की स्थापना-पूर्वक विविधोपचारी पूजा, स्तोत्रपाठ, ८-इष्टमन्त्रजप, ९- ध्यान तथा १०- क्षमाप्रार्थना।"

उपर्युक्त दस प्रकारों के सम्पादन के लिये उपाङ्ग के रूप में भी अनेक विधान आवश्यक माने गये हैं। जिनमें सर्वप्रथम साधना की इच्छावाले व्यक्ति को 'सद्गुरु से मन्त्र प्राप्त करना' चाहिये। उसके लिये शुभ मुहूर्त में दीक्षा लेने का विधान है। दीक्षा से पूर्व देहशुद्धि के लिये ३, २ अथवा १ उपवास आवश्यक है। जिसमें अन्नत्याग अवश्य हो।

दीक्षित होने के पश्चात् अपने आराध्य देव की **'नित्यपूजा'** सम्पन्न करके मन्त्रजप करो। अन्य सम्प्रदायों में मन्त्र के १- ऋषि, २- छन्द, ३- देवता, ४- बीज, ५- शक्ति और ६- कीलक से युक्त विनियोग का विधान होता है, जब कि जैन सम्प्रदाय में यह विधान नहीं होता है। परन्तु **'न्यास-विधान'** स्वीकृत है। न्यास का तात्पर्य स्थापना है। यह स्थापना देह-तन्त्र को चैतन्यमय और पवित्र बनाने, रखने तथा शरीर स्वास्थ्य के लिये किया जाता है। **'करन्यास'** और **'पञ्चाङ्ग न्यास'** के अतिरिक्त कहीं-कहीं **'मन्त्रबीज-न्यास'**, **'मन्त्रन्यास'** भी किये जाते हैं। न्यास के लिये **तत्त्वमुद्रा** - (अंगुष्ठ पर अनामिका रखने से बनी) का प्रयोग होता है। करन्यास में -अंगुष्ठादि- पाँच अँगुलियाँ और करतल-करपृष्ठ पर तथा पञ्चाङ्ग न्यास में हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, एवं ब्रह्मरन्ध्र पर न्यास किये जाते हैं।

विशिष्ट आराधना-विधियों में 'सर्वाङ्ग न्यास' भी होता है, जिसमें शरीर के प्रधान-प्रधान अङ्गोंग पर मन्त्र, बीज मन्त्र अथवा मन्त्राङ्गवर्णों का उपयोग विहित है। **'क्षिप ऊँ स्वाहा'** इन पाँच अक्षरों के न्यास को जैनतन्त्र में **'सकलीकरण'** की संज्ञा दी है। ये पाँचों अक्षर पांच तत्वों का प्रतिनिध्य करते हैं। इनके न्यास से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश तत्व विषम नहीं बन जाएँ तथा अपना समत्य देह में यथोचित बनाये रखें इसके लिये होता है। यह न्यास 'जानु, नाभि, हृदय, मुख एवं भाल' पर किया जाता है। इसी को **'देह-रक्षा विधान'** भी कहते हैं।

आत्मरक्षा के लिये जैनाचार में **'वज्रपञ्जर-स्तोत्र'** द्वारा **'कवच-निर्माण'** की विधि की जाती है, जिसमें 'नमस्कार-मन्त्र' के नौ पदों के नौ मन्त्र-पद क्रमशः "मस्तक, मुखपट, अंगरक्षा, आयुधधारण, पादरक्षार्थ उपकरण धारण, वज्रमयीशिला पर स्थिति, वज्रमय बाह्य आवरण, खातिका-निर्माण तथा वज्रमय-पिधान" की भावना प्रमुख हैं।

इसके पश्चात् **'हृदय-शुद्धि'** (हृदय पर हाथ रखकर हृदय से पाप-विचारों को दूर करने के लिये) **"ऊँ विमलाय विमलचिन्ताय ज्वीं क्ष्वीं स्वाहा"** मन्त्र द्वारा की जाती है। यहीं आगे और **'कल्मष-दहन'** के लिये भी मन्त्रोच्चारण होता है। (ये दोनों विधियाँ प्रारम्भ में भी हो सकती हैं किन्तु आभ्यन्तर-शुद्धि की दृष्टि से यहाँ निर्दिष्ट हैं।) तदनन्तर 'अष्टाङ्ग न्यास' -(१- शिखा, २-मस्तक, ३-नेत्रद्वय, ४-नासिका, ५-मुख, ६-कण्ठ, ७-नाभि और ८-पाद इन भागों में अवरोह क्रम से न्यास) विधेय बतलाया है।

विधि के समय महत्त्वपूर्ण छह दिशाओं से आकाश में विचरण करती हुईं विविध शक्तियाँ अथवा वातावरण किसी प्रकार का विघ्न न करें, उसके लिये **छोटिका-क्रिया** (दिग्बन्ध के लिये) होती है।

शास्त्र एवं लोक दोनों ही साधना-मार्ग में मान्य होते हैं क्योंकि शास्त्रों में शास्त्रीय-सङ्केत होते हैं जबकि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत विधियों को परम्परा उसे वास्तविकता प्रदान करती है। इस दृष्टि से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ भी जो लिखा गया है, वह सूचनमात्र है। ऐसी और भी विधियाँ देश, काल, सम्प्रदाय आदि के भेद से हैं, जिनका उल्लेख विस्तारभय से नहीं दिया जा रहा है।

देवता-सान्निध्य एवं पूजा प्रकार - साधना-पद्धति के उपर्युक्त अंगों के पश्चात् 'देवता-सांनिध्य' का क्रम आता है। इसके लिये प्रतिमा, यन्त्र, यन्त्रपट का उपयोग करते हैं। स्थिर प्रतिमा के अतिरिक्त यन्त्र और पट आदि पर **'वासक्षेप'** करना, तत्पश्चात् आवृत यन्त्र का 'पटोद्घाटन' करके उसमें विराजमान सेव्य-सेवक, देव-देवियों को चैतन्यमय बनाकर जाग्रत करने के 'सुरभिमुद्रा' द्वारा 'अमृतीकरण' होता है। तब ध्यान और नमस्कार करके पूजा विधि की जाती है।

पूजा-विधि - में -'गुरुस्मरण, गणाधिपति-पूजा, सङ्कल्प, रक्षा-विधान (जिसमें एक छोटे से वस्त्र में सरसों रखकर हाथ की कलाई पर राखी के रूप में बाँधा जाता है), पीठस्पर्शन, यन्त्रस्पर्शन, स्तोत्रपाठ द्वारा पुष्पाञ्जलि होती है जिसे **'पूर्वसेवा'** भी कहते हैं। यन्त्र पूजन के प्रारम्भ में 'प्राणशुद्धि' प्राणायाम करके यन्त्र में आये हुए स्थानों में पूजा 'उत्तरसेवा' होती है। उदाहरणार्थ 'ऋषिमण्डल यन्त्र' की पूजा में निम्नलिखित विधि का स्परूप ज्ञातव्य हैं -"स्वस्ति वाचन २४ तीर्थङ्करनाम, त्रैलोक्यवर्ती जिनबिम्ब और पञ्चपरमेष्ठी स्मरणरूप, मङ्गलाचरण, आवाहनादि ६ मुद्रा दर्शन, तीर्थङ्करपूजा एवं प्रार्थना, ३३ कूटाक्षर-पूजन (कादि-क्षान्त संयुक्त वर्णपूजा), नवग्रहपूजन, प्रधान अधिष्ठायकपूजा, दश दिक्पालपूजा, अर्हदाद्यष्ट पदपूजन, चतुर्निकायगत देव देवी तथा लब्धि प्राप्त महर्षिपूजन, चतुर्विंशतिदेवी पूजन, ५६ वकार (जलबीज) पूजन, के विधान विशिष्ट हैं। इसके पश्चात् (चैत्यवन्दन, ध्यान, आरती आदि होते हैं।

मन्त्र-साधना के लिये 'यन्त्र' का आधार महत्वपूर्ण माना गया है। यन्त्र को देवता का शरीर भी कहा गया है। अतः उपर्युक्त पद्धति का ज्ञान तथा विधान करना चाहिये। सूरि-मन्त्र आदि के कतिपय ऐसे भी विधान हैं, जिनकी पद्धति अधिकारी आचार्य ही जानते हैं। मन्त्रशास्त्र की अपनी मर्यादाएँ होती हैं तदनुसार पद्धतियों में भी न्यूनाधिकता आती है। उपचार द्रव्य, आसन, माला, समय, दिशा, यन्त्र आदि के बारे में 'विद्यावाद, ज्ञानार्णव, विविध कल्पग्रन्थ, निर्वाणकलिका' आदि ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

जैनधर्मानुयायियों में दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि शाखाभेद भी प्रवर्तित हैं, अतः इनके कुछ विशिष्ट आचार भी मन्त्रानुष्ठान-पद्धतियों में तरतमता उपस्थित करती है। आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की साधना-पद्धति और श्रमणों द्वारा की जाने वाली पद्धतियों में भी अन्तर है, जिसका कारण साध्वाचार तथा श्रमणाचार के नियम हैं।

विविधाः पद्धतीः श्रित्वा मन्त्र-साधना-तत्पराः।
लक्ष्यमेकं साधयन्ति ततः साध्यं स्वनिष्ठया॥
गुरौ मन्त्रे तथा देवे श्रद्धां बद्धवा दृढं हृदि।
मन्त्र-साधन-संसक्ता सिद्धिं विन्दन्ति निश्चितम्॥
वर्तते राजमार्गोऽयं साधनाया अनुत्तमः।
आत्कल्याण-संसिद्धये यतनीयम हर्निशम् ॥(रुद्रस्य)

* * * * *

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org